E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi, Assistant Professor, Department of Sanskrit, Dr. Shyama Prasad Mukherjee University, Ranchi

अनुबन्ध चतुष्टय- *घ) प्रयोजन*

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

वेदान्तसारकार ने अनुबन्ध चतुष्टय के अन्तर्गत 'अधिकारी', 'विषय' और 'सम्बन्ध' की विवेचना के पश्चात् चतुर्थस्थानीय 'प्रयोजन' पर प्रकाश डाला है। 'सम्बन्ध' पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं-

"प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृतिः स्वरूपानन्दावाप्तिश्च 'तरति शोकम् आत्मवित्' इत्यादिश्रुतेः 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेश्च"।

अर्थात् प्रयोजन तो उस (जीव ब्रह्म) के ऐक्य के ज्ञान के मध्य अज्ञान की निवृत्ति और अपने स्वरूपानन्द की प्राप्ति, क्योंकि श्रुति कहती है कि आत्मवेत्ता शोक को तर जाता और ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है।

चौथा अनुबन्ध है प्रयोजन,'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' इस गौतमीय न्यायसूत्र के अनुसार जिस वस्तु को अधिकृत कर – जिस वस्तु की प्राप्ति को लक्ष्य रख कर मनुष्य जिस कार्य में प्रवृत्त होता है वह उस कार्य का प्रयोजन होता है, मनुष्य अनादिकाल से ब्रह्म के साथ अपने ऐक्य के अज्ञान से ग्रस्त है, अपने स्वरूपानन्द को भूल कर अन्य वस्तुओं से आनन्द पाने के निरर्थक प्रयास में चिरकाल से लग्न है, जब उसके कानों में किसी प्रकार यह बात पड़ जाती है कि वह कोई सामान्य प्राणी नहीं है वह तो साक्षात् ब्रह्म है, उसे आनन्दप्राप्ति के लिये कहीं भटकना नहीं है उसका अपना स्वरूप ही आनन्द है, साथ ही जब वह यह भी समझता है कि वह इस तथ्य को वेदान्तशास्त्र के अध्ययन से हृदयंगम कर सकता है, तब वह ब्रह्म के साथ अपनी एकता के अज्ञान को मिटा देने और अपने स्वरूपानन्द का अनुभव करने को आतुर हो उठता है, वह इन्हीं दो बातों के लिये वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करने में प्रवृत्त होता है, अतः प्रयोजन की उक्त परिभाषा के अनुसार यही दो बातें- ब्रह्म के साथ अपनी एकता के अज्ञान की निवृत्ति और अपने स्वरूपानन्द की प्राप्ति ही वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अज्ञाननिवृत्ति और स्वरूपानन्द की प्राप्ति यह दोनों समान प्रयोजन नहीं है, किन्तु इनमें भी साध्यसाधनभाव है। अज्ञाननिवृत्ति साधन है और स्वरूपानन्द की प्राप्ति साध्य है। जीव-ब्रह्म के ऐक्य का दर्शन होने पर उसके अज्ञान की निवृत्ति होती है और अज्ञान का आवरण निवत्त हो जाने पर ब्रह्मानन्द के साथ एकीभूत जीव के स्वरूपानन्द की अभिव्यक्ति होती है। दोनों में नितान्त नैरन्तर्य होने से यौगपद्य सा जान पड़ता है।

यह अज्ञाननिवृत्ति क्या है? अज्ञाननिवृत्ति के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि इस अज्ञाननिवृति का अर्थ अज्ञान का अपसारणमात्र नहीं है, किन्तु अज्ञान की आत्यन्तिक निवृत्ति है। ऐसी निवृत्ति जिसके बाद अज्ञान पुनर्जीवित न हो सके। जीव-ब्रह्म के ऐक्यविषयक अज्ञान का बाध जीवब्रह्म के ऐक्य के उस अखण्ड साक्षात्कार से होता है जिसका उदय श्रवण, मनन और निदिध्यासन के चिर परिपाक से होता है-

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"।

चिन्तन का परिपाक हो जाने पर शास्त्रश्रुत, अनुमानसमर्थित, चिरचिन्तित जीवब्रह्मैक्य का दर्शन होता है जिससे उसके अज्ञान का अपुनरागामी क्षय होकर साधक को अपने स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है।

स्वरूपानन्द प्राप्ति को प्रयोजन कहने पर प्रश्न होता है कि यदि जीव का स्वरूप ही आनन्द है तो जीव को जीवस्वरूप के नित्य प्राप्त होने से स्वरूपानन्द उसे नित्य प्राप्त है। अतः उसकी प्राप्ति की प्रयोजन कहना कैसे संगत हो सकता है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि जीव का स्वरूपानन्द वस्तुतः उसे प्राप्त अवश्य है किन्तु वह उसे अप्राप्त समझता है और इसी कारण वह उसे प्राप्त करने की इच्छा करता है क्योंकि किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा में उस वस्तु की प्राप्ति प्रतिबंधक नहीं होती अपितु प्राप्त होने की बुद्धि प्रतिबन्धक होती है जो कण्ठ-चामर न्याय से सिद्ध है।

वस्तुतः मनुष्य सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप होने से नित्य आनन्दमय है परन्तु अज्ञानवश वह आनन्द को अप्राप्त समझकर उसे पाने की इच्छा से संसार के विषयों के पीछे रात-दिन भागता फिरता है, परन्तु जब उसे सद्गुरु के उपदेश से सत्य का ज्ञान होता है तब वह गुरूपदिष्ट विधि से वेदान्त शास्त्र,

का अध्ययन कर श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के क्रम से अपने अज्ञान को निरस्त कर अपने स्वरूप परमानन्द को नवप्राप्त आनन्द के समान उपलब्ध कर कृतार्थ हो जाता है।

स्पष्ट है कि स्वरूपानन्द प्राप्ति का अर्थ अप्राप्त आनन्द की प्राप्ति नहीं है किन्तु अज्ञानवश अनुभव में न आने वाले स्वरूपानन्द की अज्ञाननिवृत्तिमूलक अनुभूति है। आत्मज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति होती है, इस बात के साक्ष्य में ग्रन्थकार ने 'तरति शोकम्, आत्मवित' इस श्रुति का उल्लेख किया है। जीवब्रह्म के ऐक्याज्ञानरूप दुःखकारण की निवृत्ति बताने में ही श्रुति का तात्पर्य मानना उचित हो सकता है जिसकी उपपत्ति शोक शब्द को उक्त अज्ञान में लाक्षणिक मानने से ही हो सकती है।

श्रुति में आत्मज्ञान को शोक का निवर्तक कहा गया है, किन्तु शङ्का होती है कि श्रुति का कथन ठीक नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान जीवमात्र को है। कोई ऐसा जीव नहीं है जिसे अपने बारे में 'मैं हूँ अथवा नहीं' ऐसा संशय या 'मैं नहीं हूँ' ऐसा विपर्यय भ्रम होता है अपितु प्रत्येक को 'अहमस्मि'- इस प्रकार अपने आप का बोध ही होता है और इस बोध के होते हुये भी वह विविध दुःखों से ग्रस्त रहता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मज्ञान से दुःख के कारण की निवृत्ति नहीं होती। इस शंका का उत्तर यह है कि मनुष्य को जो आत्मज्ञान निसर्गतः प्राप्त है वह यथार्थ नहीं है क्योंकि वह ज्ञान आत्मा को देह, इन्द्रिय, प्राण और मन के धर्मों के आश्रयरूप में ग्रहण करता है जबकि उपनिषदों के अनुसार आत्मा सर्वधर्मातीत है। अतः मनुष्य का स्वाभाविक आत्मज्ञान भ्रमात्मक है। उक्त श्रुति का तात्पर्य आत्मा के यथार्थ दर्शन को सकारण शोक का निवर्तक बताने में है। अतः श्रुति के कथन में कोई असंगति नहीं है।

स्वरूपानन्द की प्राप्ति को ब्रह्मज्ञान द्वारा वेदान्तशास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन बताने के लिये ग्रन्थकार ने 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'- ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है-इस श्रुति का उल्लेख किया है, इससे विषय में यह शंका होती है कि ब्रह्मवेत्ता के ब्रह्म हो जाने की बात उचित नहीं जान पड़ती क्योंकि किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में यह बात उपलब्ध नहीं है कि उस पदार्थ को जानने वाला वह पदार्थ ही हो जाता है। यदि यह बात मानी जायेगी तो गो आदि के ज्ञाता मनुष्यों में गवादिरूपता की प्रसक्ति होगी। इस शंका के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उक्त श्रुति जो ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्म हो जाने की

बात करती है वह इस नियम के आधार पर नहीं कि जो जिस पदार्थ को जान लेता है वह उस पदार्थ के रूप को प्राप्त कर लेता है किन्तु एक मनोवैज्ञानिक आधार पर उक्त बात का प्रतिपादन करती है करती है। जैसे यह देखा जाता है कि कोई भी नीरोग व्यक्ति जब अपने को किसी रोग से ग्रस्त समझने लगता है तो वह उस प्रकार की भावना करते-करते सचमुच उस रोग से ग्रस्त हो जाता है, इसी प्रकार रोगाक्रान्त व्यक्ति जब अपने को नीरोग एवं स्वस्थ समझना आरम्भ कर देता है तब अपने स्वास्थ्य और नैरुज्य की भावना करते-करते वह रोगमुक्त एवं स्वस्थ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब जीव अपने आपको ब्रह्म मानने लगता है और अपने स्वरूप में ब्रह्मरूपता की भावना करते-करते अपने को ब्रह्मरूप में देखने लगा है तो एक दिन सचमुच पूर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है।

उक्त श्रुति को स्वरूपानन्द की प्राप्ति के प्रयोजनत्व में साक्षीरूप से प्रस्तुत करने पर दूसरी शंका यह होती है कि उक्त श्रुति तो केवल इतना ही बताती है कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म हो जाता है, इतने से तो यह नहीं सिद्ध होता कि ब्रह्माज्ञानी को स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है, तो फिर यह श्रुति उस प्राप्ति को ब्रह्मज्ञान का प्रयोजन सिद्ध करने में प्रमाण कैसे हो सकती है। इस शंका का उत्तर यह है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, अतः ब्रह्म हो जाने का अर्थ है आनन्द रूप हो जाना और आनन्दस्वरूप हो जाने का अर्थ है आनन्दरूप में अभिव्यक्त हो जाना और आनन्दरूप में अभिव्यक्त होने का अर्थ है स्वरूपानन्द प्राप्त कर लेना। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मरूप हो जाने का प्रतिपादन करने से ब्रह्मज्ञानी को स्वरूपानन्द की प्राप्ति का प्रतिपादन हो जाने से उक्त श्रुति को ब्रह्मज्ञान के उक्त प्रयोजन में साक्षी होने से कोई बाधा नहीं।